www.vmission.org
Hindi Section-pdf Resources
Articles on Hinduism & Vedanta,
Commentries on Vedanta texts,
Stories, Poems, Snippits

www.vmission.org
हिन्दी विभाग-पीडीएफ संसाधन
हिन्दु धर्म एवं वेदान्त पर लेख
वेदान्त ग्रन्थों पर टीका
कहानियां, कविताएं, एवं अन्य

भगवान श्री आदि शंकराचार्य रचित

व्याख्याकार
स्वामिनि अमितानन्द सरस्वती

खण्ड - ५

अनुक्रमणिउका

संगति :- श्रवण के उपरान्त मनन करने के लिए दृष्टा और दृश्य का विवेक करते हुए दृश्य को बाधित करते हुए निर्विशेष दृष्टा की तरह जाना जाता है। इस प्रक्रिया को आचार्यश्री ने पिछले श्लोकों में बताया कि जो भी दृश्य उपाधियां है, वह हम से पृथक् है, और हम दृष्टा स्वरूप है। इस प्रकार जानते हुए दृश्य को दृष्टा से पृथक् जानें। इसके लिए श्रुति प्रमाण भी दिया कि हम 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' है। इस प्रकार श्रुति प्रमाण से भी विवेक करें।

आगे के श्लोक में मनन एवं निदिध्यासन के उपाय रूप आत्मा के लिए प्रयुक्त विविध शब्द रूपा लक्षणाओं को जानकर उस पर विचार करके अपने अन्दर ब्रह्माकारवृत्ति उत्पन्न करना बताया जाता है।

श्लोक - ३४

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरंजनः।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः॥

अन्वयार्थ :- **निर्गुणः** - निर्गुणः, **निष्क्रियः** - निष्क्रिय, **नित्यः** - नित्य, **निर्विकल्पः** - निर्विकल्प, **निर्विकारः** - निर्विकार, **निराकारः** - निराकार, **नित्यमुक्तः** - नित्य मुक्त, **निर्मलः** - निर्मल, **अस्मि** - हूं।

श्लोकार्थ :- मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, निर्विकल्प, निर्विकार, निराकार, नित्य मुक्त और निर्मल हूं।

व्याख्या :- श्रुति आत्मा के लिए विविध लक्षणाएं प्रदान करती हैं। इन प्रत्येक शब्द के उपर विचार का पर्यवसान अपने ब्रह्म स्वरूप में ही होता है। यहां सर्वप्रथम आचार्य बताते हैं, कि हम निर्गुण स्वरूप हैं। निर्गुण का अर्थ होता है कि जिसमें कोई सत्वादि गुण नहीं होते हैं। सत्वादि तीनों गुण प्रकृति के होते हैं, और प्रकृति अर्थात् माया के कार्य रूप प्रत्येक वस्तु में यह तीनों गुण अनुवृत्त होते हैं। हम निर्गुण स्वरूप हैं। अतः हम में माया तथा माया के कार्य का सदैव अभाव है। निर्गुण होने के कारण हममें समस्त क्रियाओं का अभाव है।

माया और उसके समस्त कार्यों का अभाव होने के कारण हम जन्मादि समस्त विकारों से मुक्त निर्विकार और नित्य तत्त्व हैं। विकल्प अथवा भेद जन्मादि विकार से युक्त अवयववान् वस्तु में हुआ करता है। किन्तु हममें कोई भेद नहीं हैं। हम निर्विकल्प सत्ता हैं। जिसमें समस्त द्वैत रूप भेद का अभाव है।

हम त्रिगुण माया की उपाधियों से रहित होने के कारण वासनादि रहित निरंजन है। हमारा कोई देहादि आकार भी नहीं हैं। ऐसे समस्त माया और उसके कार्य रूप उपाधियों से हम रहित हैं। अतः हम देश, काल और वस्तु की सीमाओं के बन्धन से रहित मुक्त तत्त्व हैं।

इस प्रकार प्रत्येक लक्षणाओं के बारे में विचार करके अपने उपर से समस्त परिच्छिन्नता की धारणाओं को निवृत्त करना चाहिए। जिसका पर्यवसान एक अखण्ड, अद्वय सत्ता रूप ब्रह्म में ही होता है।

श्लोक - ३५

संगति :- पिछले श्लोक में मनन एवं निदिध्यासन के लिए आत्मा की विविध लक्षणाएं प्रदान की। जिसके उपर विचार करके अपने अन्दर ब्रह्माकारवृत्ति उत्पन्न की जानी चाहिए। आगे के श्लोक में आचार्य विचार के लिए अन्य और भी लक्षणाएं प्रदान कर रहे हैं।

अहमाकाशवत्सर्वम् बहिरन्तर्गतोऽच्युतः।
सदा सर्वसम शुद्धो निस्संगो निर्मलोऽचलः॥

अन्वयार्थ :- **अहम्** - मैं, **आकाशवत्** - आकाश की तरह, **सर्वम्** - सभी पदार्थों के, **बहिः** - बाहर, **अन्तर्गत** - भीतर, **अच्युतः** - अपरिवर्तनशील, **सदा** - सदैव, **सर्वसम** - सर्वत्र एक समान, **शुद्धः** - शुद्ध, **निस्संगः** - असंग, **निर्मलः** - निर्मल, **अचलः** - अचल, हूं।

श्लोकार्थ :- मैं आकाश की तरह सभी पदार्थों के भीतर और बाहर व्याप्त, अपरिवर्तनशील, सदैव और सर्वत्र एक समान, शुद्ध, असंग, निर्मल और अचल हूं।

व्याख्या :- आकाश वह तत्त्व है, जो सब को अवकाश प्रदान करता है, सब को व्याप्त करते हुए सब को अपने अन्दर समाए हुए है। आकाश में अन्दर और बाहर के कोई भेद नहीं होते हैं। उपाधिवशात् घटाकाश, मठाकाश आदि की कल्पना होती है, वस्तुतः एक ही आकाश है। उसी प्रकार हम चेतन सत्ता रूप से आकाश की तरह सबको व्याप्त करते हैं। हम चेतन सत्ता में अन्दर बाह्य आदि किसी प्रकार के भेद व विभाजन नहीं है, यह केवल अज्ञानवशात् ही नाम-रूपात्मक उपाधि को सत्य मान कर कल्पना हुई है। कल्पना से यद्यपि प्रतीति होने लगती है, तथापि आत्मा में किसी प्रकार से बन्धन या भेद की सम्भावना नहीं है यह नित्य मुक्त और नित्य शुद्ध है।

जो अपने स्वरूप से कभी भी गिरा नहीं है उसे अच्युत कहते है। वह यथावत् रहता है, वह न कहीं आता है, न जाता है। आत्मा सर्वत्र होने के कारण हम में भी चलन अर्थात् कहीं आना जाना नहीं होता। प्रत्येक उपाधि के अपने अपने धर्मों के कारण उसकी अभिव्यक्ति में भेद हो सकता हैं किन्तु हम सर्वत्र सम हैं, अर्थात् सब को समान रूप से व्याप्त करते हैं।

हम आकाश की तरह शुद्ध और असंग हैं। कितना भी पर्यावरण दूषित हो किन्तु आकाश में कोई मलिनता नहीं होती। न ही उसका मलिनता तथा उपाधि के विशेष धर्मों से संग होता है। वैसे ही हम शुद्ध और निस्संग हैं। हम में न अज्ञान हैं और न तज्जनित संसार की मलिनता हैं, न ही उपाधि के जन्म-मरण, गुण-दोष, सुख-दुःखादि धर्म स्पर्श करते हैं।

इस प्रकार हम आकाश की तरह सर्वत्र, शुद्ध, निस्संग, सदैव समस्वरूप है। इतना ही नहीं, किन्तु आकाश को भी व्याप्त करने वाले हम हैं। आकाश की सत्ता हम से है। आकाश जड़ है, हम चेतन स्वरूप तत्त्व हैं। अपने बारे में इस प्रकार विचार करके समस्त सीमाओं को त्यागें। अपने बारे में इस प्रकार जानकर उसमें निष्ठ होना ही मुक्ति है। आकाश के दृष्टान्त से सतत शिक्षा लें।

श्लोक – ३६

संगति :– पिछले श्लोक में मनन एवं निदिध्यासन के लिए आत्मा की विविध लक्षणाएं प्रदान की। इन लक्षणाओं पर विचार करते हुए अपने अन्दर ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न की जानी चाहिए। इन लक्षणाओं पर विचार करने पर अपनी ब्रह्मस्वरूपता में स्थित हो जाना – यह ही पुरुषार्थ है। अतः आगे के श्लोक में आचार्य अपने बारे में विचार हेतु श्रुति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के लक्षण बताते हैं :–

नित्य शुद्धविमुक्तैकम् अखण्डानन्दमद्वयम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परं ब्रह्माहमेव तत्॥

अन्वयार्थ :– **अहम्** – मैं, **तत्** – वह **एव** – ही, **परं ब्रह्म** – परब्रह्म, **यत्** – जो, **नित्य** – नित्य, **शुद्ध** – शुद्ध, **विमुक्त** – मुक्त, **एकम्** – एक, **अखण्ड** – अखण्ड, **आनन्दम्** – आनन्द, **अद्वयम्** – द्वैत से रहित, **सत्यं** – सत्य, **ज्ञानं** – ज्ञान, **अनन्तम्** – अनन्त स्वरूप है।

श्लोकार्थ :– मैं वह ही परब्रह्म तत्त्व हूं, जो नित्य, शुद्ध, मुक्त एक, अखण्ड, आनन्द, अद्वय तथा सत्य, ज्ञान – अनन्त स्वरूप है।

व्याख्या :– **मैं** वह तत्त्व हूं, जिसमें समस्त औपाधिक परिवर्तनों के बावजूद कोई परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु मैं समस्त परिवर्तनों का साक्षी बनकर स्थित रहता हूं। यह ही मेरी सत्यस्वरूपता का परिचायक है। जैसे सत्य सदैव अपरिवर्तनशील होता है, वैसे ही 'मैं'। मुझ में परिवर्तन तो नहीं होता है, किन्तु 'मैं' समस्त दृश्य पदार्थो के अन्तर्गत के परिवर्तनों को प्रकाशित करता हुआ स्थित हैं। मैं सब को प्रकाशित करता हूं, किन्तु मुझे किसी से भी प्रकाशित होने की अपेक्षा नहीं है। यह ही मेरी ज्ञान स्वरूपता दिखाती है। दृश्य पदार्थो के समस्त विकारों के मध्य में भी सब को प्रकाशित करता हुआ मैं उससे अप्रभावित स्थित हूं। अतः मैं शुद्ध स्वरूप हूं। यह समस्त दृश्य पदार्थ मुझमें कल्पित है। मैं सब के अधिष्ठानभूत एक मात्र तत्त्व हूं।

सब कुछ कल्पित होने के कारण मुझमें खण्ड व भेद की भी कल्पना की गई है। मैं अखण्ड और अद्वय तत्त्व हूं। इन समस्त कल्पनाओं के बावजूद 'मैं' उन सब से असंग, शुद्ध और नित्य तत्त्व हूं।

यह समस्त लक्षणाएं श्रुति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म की ही लक्षणाएं हैं। अतः मैं ही सबका अधिष्ठानभूत सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप, एक अखण्ड ब्रह्मतत्त्व हूं। बाकी सब मुझ में कल्पना मात्र ही है।

अपने स्वरूप पर विविध लक्षणाओं के उपर विचार करने पर यह अखण्डता की वृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए। अपने आपको एक अद्वय, अखण्ड ब्रह्म तत्त्व जान कर उसमें स्थित हो जाना ही एक मात्र मुक्ति का हेतु है।

श्लोक – ३७

संगति :– पिछले पांच श्लोकों में अपनी ब्रह्मस्वरूपता के बारे में विचार के लिए विविध लक्षणाएं प्रदान की गई। इन लक्षणों पर विचार करके अपनी ब्रह्मस्वरूपता का निश्चय करना चाहिए। अब आचार्यश्री इनका उपसंहार आगे के श्लोक में करते हैं।

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीतिवासना।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम्॥

अन्वयार्थ :– **एवं** – इस प्रकार, **निरन्तर** – सतत, **अभ्यस्ता** – अभ्यास से उत्पन्न, **ब्रह्म एव** – ब्रह्म ही, **अस्मि इति** – मै हूं, **वासना** – संस्कार, **अविद्या** – अज्ञान, **विक्षेपान्** – विक्षेपों को, **इव** – उसी प्रकार, **हरति** – नाश कर देता है, **रोगान्** – रोग को, **रसायनम्** – औषधि से।

श्लोकार्थ :– इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न 'मैं ब्रह्म हूं' यह संस्कार अज्ञान और तज्जनित विक्षेप का उसी प्रकार नाश कर देता है जैसे औषधि के सेवन से रोग की निवृत्ति हुआ करती है।

व्याख्या :– अपनी स्वस्वरूपता के ज्ञान के लिए शास्त्र ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप साधन का प्रतिपादन किया है। इन साधनों में श्रवण के द्वारा अपने अज्ञान की निवृत्ति की जाती है। मनन के द्वारा मन के अन्तर्गत के सम्भावित संशयों की निवृत्ति होती है, तथा निदिध्यासन के द्वारा प्राप्त ज्ञान को दृढ़ अर्थात् ज्ञान में निष्ठा उत्पन्न की जाती है।

यहां आचार्यश्री बता रहे हैं कि निरन्तर अहं ब्रह्मास्मि की भावना का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। आचार्य ने यहां अभ्यास करने का विशेष महत्त्व बताया है। हमारे अन्दर आज इससे विपरीत अनात्मा में आत्मबुद्धि ही अत्यन्त दृढ हो गई है, और यह अज्ञान एवं जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों की वजह से है। जैसे कि दीवार में कील जितनी गहरी गाड़ी गई हो उतनी ही ज्यादा मेहनत उसे निकालने में करनी पड़ती है। यह जन्मान्तर के संस्कार बहुत गहरे हो चुके हैं, अतः तद्विपरीत ज्ञान जनित भावना में दृढ़ता उत्पन्न करना परं आवश्यक है।

अतः आवश्यक है कि सर्व प्रथम बार बार श्रवण करके अपने अज्ञान और विपरीत संशय की निवृत्ति की जाय। यद्यपि ज्ञानवृत्ति श्रवण काल में उत्पन्न की जाती है। किन्तु उसे सतत बनाए रखें, जिससे कि तद्विपरीत वासनाओं की निवृत्ति पूर्णतया हो कर ज्ञान में निष्ठा उत्पन्न हो, अर्थात् ज्ञान अबाधित रूप से बना रहे। इसी के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्ति को दृढ़ किया जाता है। यह वृत्ति ही अज्ञान और उससे उत्पन्न विक्षेपों की निवृत्ति करने में समर्थ होती है। यह साधना औषधि रूपा होती है। जैसे रोगी को उसके रोग की निवृत्ति के लिए औषधि तब तक दी जाती है, जब तक रोग निवृत्ति न हो जाए।

श्लोक – ३८

संगति :– पिछले श्लोक में बताया गया कि हमें अपनी ब्रह्मस्वरूपता के बारे में विविध लक्षणाओं का आश्रय लेते हुए निरन्तर विचार करना चाहिए। यह ब्रह्माकार वृत्ति अविद्या और तज्जनित रोगों की निवृत्ति के लिए एक ओषधि का कार्य करती है। इस प्रकार से विचार करते हुए ब्रह्माकार वृत्ति जगाने के लिए ध्यान का आश्रय लेना चाहिए। उसके बारे में आगे के श्लोक में आचार्य बताते हैं।

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः॥

अन्वयार्थ :– **विविक्तदेश** – एकान्त स्थान में, **आसीनः** – स्थित होकर, **विरागः** – रागादि रहित, **जितेन्द्रियः** – इन्द्रियों को वश में करते हुए, **तम्** – उस, **अनन्तम्** – अनन्त स्वरूप, **एकम्** – एक, **आत्मानं** – आत्मतत्त्व का, **अनन्यधीः** – अनन्य भाव, **भावयेद्** – चिन्तन करें।

श्लोकार्थ :– एकान्त स्थान में स्थित होकर, सब से रागादि रहित होकर तथा इन्द्रियों को वश में करते हुए अनन्त स्वरूप एक आत्मतत्त्व का अनन्य भाव से चिन्तन करें।

व्याख्या :– शास्त्रों में अज्ञान की निवृत्ति अनन्तर ज्ञान की अवस्था में स्थित होने के लिए मुख्य तीन साधन बताएं गए हैं। सर्व प्रथम, गुरुमुख से शास्त्रों का विधिवत् श्रवण करना। श्रवण से बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्त की जाती है। श्रवण के उपरान्त दूसरा पड़ाव मनन रूप होता है। जिसमें मन के अन्तर्गत विविध प्रकार के संशयों को भिन्न-भिन्न तर्क आदि के माध्यम से निवृत्त किये जाते हैं। अपनी ब्रह्मस्वरूपता का निश्चय होने के उपरान्त भी उसमें निष्ठा होने के लिए आवश्यक है निदिध्यासन रूपा साधना।

किसी भी वृत्ति का परिहार उसके विपरीत वृत्ति से ही हुआ करता है। अज्ञान एवं संशय की निवृत्ति श्रवण एवं मनन से होती है, तथा विपरीत भावना निदिध्यासन के द्वारा दूर होती है। इस निदिध्यासन के लिए समाधि का अभ्यास अत्यन्त सहायक होता है। समाधि से तत्त्व ज्ञान की वृत्ति एवं तत् विषयक तीव्र भावना की उत्पत्ति होती है। इस समाधि की प्रक्रिया को यहां आचार्य बताते हैं।

इसके लिए कुछ बाह्य तथा आन्तरिक स्तर पर पूर्व तैयारी करना बताई जाती है। साधक किसी एकान्त स्थान में जाए अथवा ऐसा समय सुनिश्चित करे जिस समय कम से कम बाह्य विक्षेप हो, ऐसे समय अथवा ऐसे स्थान का चयन करें। इसके लिए ब्रह्ममूहुर्त का समय उत्तम माना गया है। ऐसे समय एकान्त स्थान में सुखपूर्वक आसन में अपने शरीर, ग्रीवा और सिर को एक लाइन में स्थिर रखके बैठें।

अपने मन को सब के प्रति राग-द्वेष से रहित करें। इसके लिए जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय दृढ़ता से होना अत्यन्त सहायक होता है। इसकी वजह से मन किसी विषयों के प्रति महत्व बुद्धि से प्रवृत्त नहीं होते हुए शान्त होकर बुद्धि के वश में स्थित रहता है। इन्द्रियों के स्तर पर भी चंचलता का अभाव हो। समस्त इन्द्रियां अपने वश में करके कुछ देर के लिए उसे अपने अपने गोलक में बिठाएं।

इस प्रकार की बाह्य पूर्व तैयारी के उपरान्त अब ध्यान की प्रक्रिया को आरम्भ किया जाता है। श्रवण और मननकाल में अपनी जिस ब्रह्मस्वरूपता का निश्चय किया था, उसकी अनन्यता से विचारपूर्वक दृढ़ भावना करें। कि हम ही अनन्त स्वरूप समस्त सीमाओं से परे ब्रह्मतत्त्व हैं। हम एक मात्र तत्त्व है। हम से भिन्न अन्य किसी का अस्तित्व नहीं है, जो हमें सीमित कर सके। हम वह परिपूर्ण तत्त्व है। इस प्रकार की भावना तब तक जगाएं जब तक इसकी अनावश्यकता न हो जाए।

श्लोक - ३९

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि स्वस्वरूप का अज्ञान ही मोह का जनक होता है। अपने आपको परमात्मा न जानकर उसकी एक छोटी सी अभिव्यक्ति रूप जीव मात्र मान लेने से ही सांसारिक भय आदि उत्पन्न होते हैं। अतः स्वस्वरूप का ज्ञान ही समस्त भयादि रूप संसार की निवृत्ति के लिए एक मात्र उपाय है। इस ज्ञान के लिए गुरु के चरणों में बैठकर उनके श्रीमुख से वेदान्त का श्रवणादि किया जाता है। आत्म-ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है, इस रहस्य को आगे के श्लोक में बताया जा रहा है।

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत् सदा।।

अन्वयार्थ :- **सुधीः** - विवेकी पुरुष, **धिया** - विवेकपूर्वक, **अखिलं दृश्यं** - सम्पूर्ण दृश्य जगत् को, **आत्मनि** - अपने में, **एव** - ही, **प्रविलाप्य** - विलीन करके, **आकाशवत्** - आकाश की तरह, **निर्मल** - निर्मल, **एकम्** - एक, **आत्मानं** - आत्मा का, **सदा** - सदा, **भावयेद्** - चिन्तन करें।

श्लोकार्थ :- विवेकी पुरुष विवेकपूर्वक सम्पूर्ण दृश्य जगत् को अपने में विलीन करके आकाशवत् निर्मल आत्मा का सदा चिन्तन करें।

व्याख्या :- निदिध्यासन की प्रक्रिया अपने सत्य स्वरूप में अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता में अबाधित रूप से स्थिर होने की प्रक्रिया है। सत्यता में जगने हेतु आवश्यक है मिथ्या को मिथ्या जानकर उसे बाधित होने देना चाहिए। यह नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या है, जैसे जल से उत्पन्न लहर नाम रूप का विलास है। इस नाम रूप की लहर से स्वतंत्र व भिन्न सत्ता नहीं है, किन्तु लहर पर आश्रित है। इस प्रकार जानने से लहर का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। किन्तु जल तत्त्व मात्र ही अवशिष्ट रहता है, यह निश्चय करना है, अर्थात् लहर का उसके अधिष्ठान जल तत्त्व में प्रविलापन करना।

उसी प्रकार से यह दृश्य जगत् मुझ चेतन सत्ता से उत्पन्न हुआ है तथा मुझ दृष्टा पर आश्रित है। दृश्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, किन्तु दृष्टा की वजह से दृश्य अस्तित्व में आता है। इस तथ्य को विवेक पूर्वक निश्चय करते हुए दृश्य का दृष्टा में प्रविलापन करें। प्रविलापन मतलब किसी कार्य में उसके कारण मात्र को देखना। इससे नामरूपात्मक दृश्य का दृष्टा से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रहता है। जब नाम रूप की सत्ता होती है तब यहां-वहां, अन्दर-बाहर आदि देशादि के भेद रहते है। जब यह भेद ही नहीं रहे तो आकाशवत् एक अखण्ड तत्त्व विराजमान है। हम आकाशवत् एक, अखण्ड तथा किसी भी प्रकार के विकारों से रहित निर्मल तत्त्व है। इस प्रकार का निश्चय ध्यान के आसन पर बैठ कर करना चाहिए। विवेकपूर्ण तरीके से इस तथ्य को देखने के उपरान्त यह मैं हूं। इस प्रकार की दृढ़ भावना जगानी चाहिए।

निदिध्यासन, आत्मा के साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्षानुभूति के उपरान्त की साधना होती है। साक्षात्कार के पूर्व आत्मा में ब्रह्म बुद्धि एवं तद् भावना रखना एक प्रकार की उपासना मात्र है, न कि निदिध्यासन।

श्लोक – ४०

संगति :– पिछले श्लोक में निदिध्यासन की प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हुए बताया गया कि दृश्य को अपने अधिष्ठान में प्रविलापन करने पर आकाशवत् समस्त भेदों से रहित एक मात्र दृष्टा ही अवशिष्ट रहता है। इसी प्रक्रिया को अन्य दृष्टिकोण से बताया जा रहा है।

रूपवर्णादिकं सर्व विहाय परमार्थवित्।
परिपूर्णचिदानन्द स्वरूपेणावतिष्ठते॥

अन्वयार्थ :– **परमार्थवित्** – परमार्थवित्, **सर्वं रूपवर्णादिकं** – सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक जगत् का, **विहाय** – त्याग करके, **परिपूर्ण** – परिपूर्ण, **चिदानन्द** – चिदानन्द, **स्वरूपेण** – स्वरूप में, **अवतिष्ठते** – अवस्थित हो जाता है।

श्लोकार्थ :– परमार्थवित् सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक जगत् के प्रति सत्यता की बुद्धि का त्याग करके परिपूर्ण चिदानन्द स्वरूप में ही अवस्थित हो जाता है।

व्याख्या :– श्रवण मनन और निदिध्यासन की प्रक्रिया के माध्यम से यदि तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान तथा ज्ञान में निष्ठा हो जाती है, तब साधक सिद्ध अथवा परमार्थवित् अर्थात् परं तत्त्व का वेत्ता कहा जाता है। वह परमार्थवित् की जगत् के प्रति एक विलक्षण दृष्टि हुआ करती है। उनका नाम-रूपों में मिथ्यात्व का निश्चय होता है, तथा अपने बारे में निश्चय होता है कि हम पूर्ण चेतन सत्ता मात्र हैं।

मिथ्या जगत् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है, किन्तु मुझ चेतन सत्ता पर यह जगत् का अस्तित्व निर्भर है। इस प्रकार विचार करने के द्वारा इस जगत् के यथार्थ का निश्चय किया जाता है। तब जगत् की अधिष्ठानभूत चेतनसत्ता ही अवशिष्ट रहती है। जगत् के प्रति मिथ्यात्व के निश्चय के कारण यह जगत् हमें न तो सुख देने में समर्थ है और न ही दुःख देने में, अतः इसमें उपेक्षणीय दृष्टि हो जाती है। जगत् के प्रति महत्व समाप्त होने पर अपनी पूर्ण स्वरूपता में सहज ही स्थिति होती है। ऐसे अपने परं स्वरूपता को जानने वाले ज्ञानी जगत् में रहकर समस्त व्यवहार से युक्त प्रतीत होने पर भी अपनी पूर्ण चिदानन्द स्वरूप में स्थित रहता है।

श्लोक – ४१

संगति :– पिछले श्लोक में हमने देखा कि जगत् के प्रति मिथ्यात्व के निश्चय से जगत् सुख दुःख देने में समर्थ नहीं रहता है। यह उपेक्षणीय दृष्टि सत्य के साक्षात्कार के लिए भी हेतु बनती है। किन्तु यदि जगत् का अस्तित्व बना रहता है तो सुख दुःखादि की सम्भावनाओं को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता है। फिर ज्ञानवान् कैसे उससे अछूता रह सकता है? ऐसी शंका हो तो उसके उत्तर स्वरूप आगे के श्लोक में आचार्य ज्ञान का स्वरूप दर्शाते है।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परे नात्मनि विद्यते।
चिदानन्दैकरूपत्वाद् दीप्यते स्वयमेव हि॥

अन्वयार्थ :- **चिदानन्द-एक रूपत्वात्** - चिदानन्द स्वरूप होने के कारण, **परे-आत्मनि** - परमात्मा में, **ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय भेदः** - ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद, **न विद्यते** - नहीं है, **स्वयम् एव** - स्वयं ही, **दीप्यते** - प्रकाशित है।

श्लोकार्थ :- परमात्मा चिदानन्द स्वरूप होने के कारण उनमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं है। एक होने के कारण वह स्वयं सर्वत्र प्रकाशित है।

व्याख्या :- जिसने भी जगत् के अधिष्ठानभूत तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ज्ञानवान् की दृष्टि अपने बारे में तथा जगत् के बारे में विलक्षण हुआ करती है। ज्ञान के अभाव में जीव जगत् में भेद दृष्टि देखता है। वह स्वयं को विविध वस्तुओं का जानने वाला ज्ञाता जानता है, तथा जगत् के विषयों को अपने से पृथक ज्ञेय समझता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय को शास्त्र की भाषा में त्रिपुटी कहा जाता है। यह त्रिपुटियां विविध स्तरों पर हुआ करती हैं। जैसे कि वह जब ध्यान करने वाला बनता है तब ध्याता, ध्यान और ध्येय, जब देखने वाला होता है तो दृष्टा, दर्शन और दृश्य, जब कर्म का करने वाला बनता है तब कर्ता, क्रिया और कर्म। इस प्रकार हर स्तर पर त्रिपुटी रूप भेद देखने में आते हैं।

जिस समय जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय होता है, तो दृश्य के मिथ्यात्व के साथ ही दृष्टा का भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। क्यों कि हम दृष्टा तब कहलाते हैं जब हमारे सामने कोई दृश्य होता है। जब दृश्य ही मिथ्या है तो हमारा दृष्टृत्व भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है। दृष्टा के मिथ्या सिद्ध होने पर भी जिसकी वजह से दृष्टा का अस्तित्व बना हुआ था, वह 'मैं' की तरह विद्यमान है। उस समय उसमें न दृष्टृत्व है और न ही ज्ञातृत्व है। हम एक चेतन सत्ता मात्र ही अवशिष्ट रहते हैं। जब हम में ज्ञातादि रूप किसी प्रकार के भेद ही नहीं हैं, तब हम एक ही अखण्ड सत्ता हैं, जो समस्त परिच्छिन्नताओं से रहित आनन्द स्वरूप है।

इस 'मैं' को अपने से पृथक् किसी वृत्ति अथवा करण से नहीं जाना जाता है। वह तो चिदानन्द स्वरूप है। इस प्रकार अपने अन्दर से समस्त भेदों का निषेध करने पर एक मात्र परिपूर्ण हम ही अवशिष्ट रहते हैं। इस प्रकार से स्वयं को देख कर उसमें स्थित हो जाना ही परं पुरुषार्थ है।

श्लोक - ४२

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय रूपी त्रिपुटी आत्मा पर कल्पित है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण बिना किसी प्रकाशक के स्वयं ही प्रकाशित होती है। इन भेदों का तब तक ही अस्तित्व बना रहता है, जब तक हम इन्हें सत्यता प्रदान करते हैं। अपने सत्य के ज्ञान के लिए अपने सद्गुरु के चरणों में बैठकर श्रवण और मनन की अपेक्षा रहती है। इन मंथनात्मक ज्ञान साधनों से अज्ञान कैसे नष्ट होता है, और स्वरूप में अवस्थिति कैसे होती है, यह आगे बताते है :-

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते।
उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत्॥

अन्वयार्थ :- **एवम्** - इस प्रकार, **आत्मा-अरणौ** - आत्मा की अरणी, **कृते** - बनाते हुए, **सततं** - सतत, **ध्यान मथने** - ध्यान रूपी मंथन करने पर, **अवगति** - ज्ञान रूपी, **ज्वाला** - अग्नि, **उदित** - प्रज्ज्वलित होती है, (उसमें) **सर्व** - समस्त, अज्ञान-इन्धनं - अज्ञान रूपा इन्धन, **दहेत्** - जल जाता

है।

श्लोकार्थ :- आत्मा की अरणी बनाते हुए सतत मंथन करने पर ज्ञान रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, जिससे अज्ञान रूपा इन्धन जल जाता है।

व्याख्या :- ज्ञान की प्रक्रिया एक मंथन की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए दो लकड़ी का प्रयोग किया जाता है, उन्हें अरणि कहते हैं। इसमें से एक लकड़ी के मध्य में एक छोटा सा गढ्ढा किया जाता है, जिसमें रुई के साथ दूसरी लकड़ी को फंसा कर तेजी से घुमाया जाता है। जैसे जैसे दोनों में घर्षण होता है, वैसे वैसे गरमी के साथ साथ चिनगारियां उत्पन्न होती है, और उसमें फंसी हुई रूई आग पकड़ लेती है। इस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है, जो कि समस्त इंधन को भी जला दती है।

उसी प्रकार से विचार की प्रक्रिया में वर्तमान धारणाओं से युक्त जीव को नीचे की अरणी माना जाता है, तथा शास्त्र प्रतिपादित तत्त्व उपर की अरणी के समान है। और विचार का स्वरूप होता है कि हम वर्तमान धारणाओं से युक्त जीव के उपर विचार किया जाता है, इस श्रद्धा से युक्त होकर कि जो शास्त्र प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप है, वह ही हमारी वास्तविकता है। इस पर विविध श्रुति, युक्ति और अनुभूति के आश्रय से विचार तब तक किया जाता है कि जब तक अपने अन्दर विवेक अग्नि प्रज्ज्वलित न हो जाए। इस विवेक के माध्यम से समस्त अज्ञान और उससे उत्पन्न समस्त धारणाएं जल कर भस्मीभूत हो जाती है। तब मात्र एक ही सत्य तत्त्व मैं की तरह से अवशिष्ट रहता है।

श्लोक - ४३

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि शास्त्र प्रतिपादित आत्मा ही हमारा वास्तविक स्वरूप है इस श्रद्धा से युक्त होकर आज जीव के अर्थात् अपने बारे में रखी हुई वर्तमान धारणाओं पर विचार किया जाता है। इस मंथनात्मक ज्ञान से स्वरूप अज्ञान नष्ट होकर आत्मा का साक्षात्कार होता है। तो प्रश्न यह होता है कि विचार से अज्ञान नष्ट होते ही आत्म साक्षात्कार होता है कि तत्पश्चात् होता है :-

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव।।

अन्वयार्थ :- **पूर्वं** - (सूर्योदय से) पहले ही, **अरुणेन सन्** - अरूण के उदित होने पर, **तमसे** - अन्धकार का, **हृते** - हरण हो जाता है, **इव** - जैसे, (इसी तरह से) **पूर्वं** - (आत्म साक्षात्कार से) पूर्व **बोधेन** - ज्ञान द्वारा (अज्ञान निवृत्त हो जाता है।), **ततः** - उसके उपरान्त, **आत्मा** - आत्मा, **अंशुमान इव** - सूर्य की तरह, **स्वयम् एव** - स्वयं ही, **आविर्भवेद्** - प्रकाशित हो जाती है।

श्लोकार्थ :- जैसे सूर्योदय से पूर्व अरूण का उदय होकर अन्धकार का हरण हो जाता है, इसी तरह से आत्म साक्षात्कार से पूर्व ज्ञान द्वारा अज्ञान निवृत्त हो जाता है। उसके उपरान्त आत्मा सूर्य के समान स्वयं ही प्रकाशित हो जाती हैं।

व्याख्या :- रात्रिगमन पश्चात् जब संधिकाल अर्थात् ब्रह्ममूहुर्त का समय होता है, तब अन्धकार धीमे धीमे छट्ने लगता है, और सूर्य की लालिमा युक्त प्रकाश छाने लगता है, इसे अरुण कहते हैं। यह अरुण मानो सूर्य के आगमन का समाचार लिए प्रस्तुत हो रहा हो। अन्धकार की निवृत्ति इतने मात्र से होने लगती है। तत्पश्चात् बाल रवि उदित होने लगता है, और कुछ ही क्षणों में सूर्य का पूर्ण दर्शन होने लगता है। यह दिखाता है कि सूर्य के द्वारा अन्धकार को नष्ट करना मात्र एक औपचारिकता है।

उसी प्रकार से आत्मा का साक्षात्कार होकर अज्ञान नष्ट नहीं होता है। आत्मा का अज्ञान से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जिस समय अज्ञान है, उस समय भी आत्मा तो है ही। जिस आत्मा की वजह से अज्ञान का भान होता है, वह ही बुद्धिगत अज्ञान मानो आत्म साक्षात्कार में आवरण रूप बन जाती है। अतः आवश्यकता है ज्ञान प्राप्त करके अज्ञान को नष्ट किया जाय। ज्ञान से अज्ञान तथा तज्जनित संशयों की निवृत्ति हो जाती है, तथा अपनी पूर्णस्वरूपता का निश्चय हो जाता है। श्रवणादि के द्वारा गुरुमुख से जिस ज्ञान को प्राप्त किया गया है, उसके सन्दर्भ में संशय एवं विपर्यय का नाश करके निरन्तर भान बनाए रखने की आवश्यकता होती है। इस ज्ञान से निर्विकल्प समाधि प्रसाद की तरह से प्राप्त होती है, जो कि आत्मा के साक्षात्कार का पर्याय है।

पुरुषार्थ श्रवणादि का होता है, और प्रसाद साक्षात्कार का मिलता है। श्रवणादि अरुण तुल्य है, और साक्षात्कार सूर्य के उदय तुल्य। अतः मुमुक्षु को श्रवणादि में ही अपना पूरा ध्यान लगाना चाहिए।

श्लोक – ४४

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि आत्मा के साक्षात्कार के पूर्व ही शास्त्र ज्ञान की कृपा से अज्ञान ऐसे नष्ट होने लगता है कि जैसे रवि के उदय के पूर्व अरुण के द्वारा अन्धकार नष्ट हो जाता है। क्योंकि ज्ञान से आत्मा उत्पन्न नहीं होती है, वह तो पहले से ही प्राप्त है। इसी तथ्य को आचार्यश्री आगे के श्लोक में दृष्टान्त के माध्यम से समझाते हैं :-

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽपि अप्राप्तवदविद्यया।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा॥

अन्वयार्थ :- **आत्मा** – आत्मा, **सततं** – सतत, **प्राप्तः अपि** – प्राप्त होने पर भी, **अविद्यया** – अज्ञानवशात्, **अप्राप्तवद्** – अप्राप्त के समान, **भाति** – लगती है, **तत् नाशे** – उसका नाश होने पर, **प्राप्तवद्** – प्राप्त हुई सी, **भाति** – लगती है, **यथा** – जैसे, **स्वकण्ठ-आभरणं** – अपने ही गले का आभूषण।

श्लोकार्थ :- आत्मा सतत प्राप्त है, किन्तु अज्ञानवशात्इसका पता नहीं चलता है। अज्ञान के नष्ट होने पर आत्मा की उसी प्रकार 'प्राप्त' हो जाती है, जैसे पहले से प्राप्त, किन्तु खोया हुआ मान लिया गया आभूषण, अपने ही गले में प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या :- जगत् में कर्म का स्थान चार प्रयोजनों से प्रेरित होकर होता है। वह है प्राप्य, उत्पाद्य, संस्कार्य और विकार्य। यह हम पहले ही देख चुके है कि आत्मा नित्य शुद्ध और अविकारी है अतः उसे संस्कारित अथवा विकारित करने की आवश्यकता नहीं होती है। जो वस्तु इस समय नहीं है, उसे उत्पन्न करने के लिए कर्म का स्थान होता है। किन्तु आत्मा अजन्मा और शाश्वत है। अतः उत्पन्न करने योग्य भी नहीं है। जो वस्तु अप्राप्त होती है उसे प्राप्त करने के लिए भी कर्म सहायक होता है।

किन्तु आत्मा नित्य प्राप्त ही है।

आज जिस समय हम अपने आप को एक अल्प जीव मान रहे हैं उस समय भी हम पूर्ण स्वरूप आत्मा ही है। पूर्णता कहीं से प्राप्त नहीं की जाती या उत्पन्न भी नहीं की जाती। हम अपने सत्य को नहीं जान रहे है। जब गुरु के चरणों में समर्पित होकर ज्ञान प्राप्त करते हैं तो जो पहले से ही प्राप्त होने पर भी अप्राप्त सा है, वह हमें प्राप्त सा हो जाता है। जब समस्या नहीं जानने की वजह से है तो उसका समाधान केवल ज्ञान ही हो सकता है। क्योंकि अज्ञान ज्ञान के द्वारा ही नष्ट हुआ करता है।

व्यावहारिक जीवन में भी कई बार ऐसा अनुभव होता है कि कोई वस्तु अपने पास होने के बावजूद भी अपने से दूरवत् प्रतीत होती है, और उसे पाने की व्यर्थ चेष्टाएं हुआ करती हैं। आचार्यश्री दृष्टान्त देते है कि जैसे अपने ही गले में पड़े हुए हार को हमने खोया हुआ मान लिया, और उसकी अपने से पृथक् बाहर तलाश करते हैं। किन्तु जब किसी के द्वारा बताया जाय कि जिसे तुम ढूंढ़ रहे हो वह तुम्हारे पास ही है। तो मानो कि प्राप्त वस्तु की ही प्राप्ति हो जाती है। अतः सर्व प्रथम अपनी पूर्णता की श्रद्धा से युक्त होकर शास्त्र ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए।